जगन्नाथका रथ

श्रीअरविंद

अनुवादक—श्रीमदनगोपाल गाड़ोदिया

प्रकाशक

श्रीअरविंद-ग्रंथमाला

१६, रयू देबासँ द रिशमों

16, Rue Desbassin De Richemont

पांडीचेरी

२१ फरवरी १९४२

मुद्रक

हिन्दी प्रचार प्रेस, मद्रास

थम संस्करण
१०००

मूल्य
॥) आठ आना

विषय - सूची



जगन्नाथका रथ

आदर्श समाज ही है, मनुष्य-समष्टिके अंतरात्मा भगवान्‌का वाहन, जगन्नाथकी यात्राका रथ। ऐक्य, स्वाधीनता, ज्ञान और शक्ति इस रथके चार चक्र हैं।

मनुष्यकी बुद्धिसे गढ़ा हुआ अथवा प्रकृतिके अशुद्ध प्राण-स्पंदनकी क्रियामें रचा हुआ जो समाज है वह दूसरी तरहका है। यह समाज, समष्टिके नियंता श्री भगवान्‌का रथ नहीं है, बल्कि मुक्त अंतर्यामीको आच्छादित कर जो बहुरूपी देवता भगवद्‌प्रेरणाको विकृत करता है उस समष्टिगत अहंकारका यह वाहन है। अनेक प्रकारके भोगपूर्ण लक्ष्यहीन कर्मके पथपर, बुद्धिके असिद्ध और अपूर्ण संकल्पके वेगसे, निम्नप्रकृतिकी प्राचीन या नवीन अवश प्रेरणाके वश यह चलता है। जबतक अहंकार ही कर्त्ता है तबतक प्रकृत लक्ष्यका अनुसंधान पाना असंभव है—लक्ष्यका पता लगने-पर भी रथको उस ओर सीधे ले जाना तो असाध्य ही है। अहंकार भागवत प्रेरणामें प्रधान बाधक है, यह तथ्य जैसा व्यष्टिके लिये सत्य है वैसा ही समष्टिके लिये भी है।

साधारण मनुष्य-समाजरूपी रथके तीन मुख्य भेद दिखायी देते हैं। पहला है निपुण कारीगरकी सृष्टि, सुंदर जगमगाती हुई उज्ज्वल निर्मल सृष्टि, जिसे खींच रहा है एक बलवान् सुशिक्षित अश्व, वह सुपथपर, यत्नपूर्वक, धीर अमंथर गतिसे आगे बढ़ रहा है। सात्त्विक अहंकार इसका स्वामी है, आरोही है। जिस उपरिस्थ उत्तुंग प्रदेशमें भगवान्‌का मंदिर है, रथ उसके चारों ओर घूम रहा

है, किंतु यह उस स्थानसे थोड़ी दूरपर रहता हुआ ही घूमता है उस उच्च भूमिके एकदम समीप नहीं पहुंच सकता। यदि इस स्थानसे भी ऊपर उठना हो तो यही नियम है कि इस रथसे उतरकर अकेले पैदल चलना होगा। वैदिक युगके बाद प्राचीन आर्यजातिके समाजको इसी प्रकारका रथ कहा जा सकता है।

दूसरा है विलासी कर्मठको मोटरगाड़ी। धूल उड़ाती हुई, भीमवेगसे गर्जना करती और धड़ाधड़ रास्ता काटती हुई, अशांत अश्रांत गतिसे, वह दौड़ रही है, भोंपेकी आवाजसे कान फटे जा रहे हैं, जिस-किसीको वह सामने पाती है उसीको रौंदती पीसती हुई चली जाती है। यात्रीके प्राणोंपर संकट, अनवरत दुर्घटनाएं; मोटर टूट जाती है फिर किसी तरहसे मरम्मत आदि हो जानेके बाद उसी तरह गर्वके साथ चलती है। इसका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं है, किंतु जो कोई भी नवीन दृश्य नजदीकमें उसकी आंखोंके सामने पड़ जाता है उसीको मोटरका स्वामी राजसिक अहंकार "यही लक्ष्य है, यही लक्ष्य है" कहकर चिल्लाता हुआ उस ओर दौड़ पड़ता है। इस रथपर चलनेमें यथेष्ट भोग सुख है, विपद भी अनिवार्य है, परंतु भगवानके निकट पहुंचना असंभव है। आधुनिक पाश्चात्य समाज इसी तरहकी मोटरगाड़ी है।

तीसरा है मैली पुरानी कछुएकी चालसे चलनेवाली अधटूटी बैलगाड़ी। इसको खींच रहे हैं दुबले-पतले भूखसे दुखी अधमरे बैल, चल रही है संकीर्ण ग्राम्य पथपर। मैला-कुचैला कपड़ा पहने हुए, पेट ही जिसका सर्वस्व है ऐसा एक दुर्बल आखोंसे हीन बूढ़ा भीतर बैठा हुआ कीचड़से सराबोर हुक्केको अत्यंत सुखपूर्वक पीता हुआ, गाड़ीके कर्कश शब्दोंको कानसे सुनता हुआ अतीतकी कितनी ही विकृत अर्द्ध-स्मृतियोंमें मग्न हो रहा है। इस मालिकका नाम है तामसिक अहंकार। गाड़ीवानका नाम है पुस्तकमें पढ़ा हुआ

ज्ञान, वह पंचांग देख-देखकर चलनेका समय और किस ओर चलना होगा, यह निर्देश करता रहता है। और उसके मुंहसे ये शब्द निकलते हैं कि "जो कुछ है या था वही अच्छा है, जो कुछ होनेकी चेष्टा करना है वही खराब है" इस रथकी भगवानके निकट पहुंचनेकी संभावना चाहे न हो पर शून्य ब्रह्मके पास शीघ्र ही पहुंच जानेकी आशा है।

तामसिक अहंकारकी बैलगाड़ी जबतक गांवोंकी कच्ची सड़कपर चलती है तभीतक उसकी खैर है। जिस दिन वह जगत्के राजपथपर, जहां अनेक वेगवान् मोटरें दौड़ती हैं, चली आवेगी उस दिन उसका क्या परिणाम होगा यह सोचते ही प्राण सिहर उठते हैं। विपद यही है कि रथको बदल देनेका समय पहचानना या स्वीकार करना तामसिक अहंकारकी ज्ञानशक्तिके बाहरकी बात है। इस समयको पहचाननेकी उसकी प्रवृत्ति भी नहीं है कारण ऐसा होनेसे उसका व्यवसाय और स्वामित्व नष्ट हो जाते हैं। जब कोई समस्या उपस्थित होती है तो यात्रियोंमेंसे कोई-कोई कहते हैं "नहीं, रहने दो, यही अच्छा है क्योंकि यह हमलोगोंका ही है"। ये लोग हैं लकीरके फकीर (orthodox) अथवा भावुक देशभक्त। कोई-कोई कहते हैं "इधर-उधरसे कुछ मरम्मत वगैरह कर न लो।" इसी सहज उपायसे मानो बैलगाड़ी आप-ही-आप किसी अनिंद्य, अमूल्य मोटरमें परिणत हो जायगी!—इनका नाम है संस्कारक। कोई कोई कहते हैं "प्राचीन कालका सुंदर रथ फिरसे लौट आवे।" ये लोग इस असाध्य साधनका उपाय भी बीच-बीचमें खोजते रहते हैं। किंतु आशाके अनुसार फल होगा इसका कोई विशेष लक्षण कहीं भी दिखायी नहीं देता।

इन तीनोंमेंसे एकको पसंद करना यदि अनिवार्य हो, और भी उच्चतर चेष्टाको यदि हम छोड़ दें, तो सात्विक अहंकारका एक

नवीन रथ निर्माण करना ही युक्तिसंगत है। किंतु जगन्नाथका रथ जबतक सृष्ट नहीं होगा तबतक आदर्श समाजका संगठन भी नहीं होगा। यही आदर्श है, चरम प्राप्ति है, गभीरतम, उच्चतम सत्यका विकास और प्रतिकृति। गुप्त विश्वपुरुषकी प्रेरणासे इसीको गढनेमें मनुष्यजाति सचेष्ट है, किंतु प्रकृतिके अज्ञानके वशमें होनेसे वह इसके बदले किसी दूसरे ही प्रकारकी प्रतिमाको गढ़ डालती है—यह प्रतिमा या तो विकृत, असिद्ध और कुत्सित होती है अथवा चलनसार, अर्द्धसुंदर या सौंदर्ययुक्त होते हुए भी असंपूर्ण। शिवके बदले या तो वह वानरको गढ़ डालती है या किसी राक्षसको अथवा किसी मध्यम लोकके अर्द्ध-देवताको।

जगन्नाथके रथकी ठीक-ठीक आकृति या उसके ठीक-ठीक नमूनेको कोई नहीं जानता। कोई जीवन-शिल्पी, चाहे वह कितना ही निपुण क्यों न हो, इस रथके नकशेको नहीं आंक सकता। यह छवि विश्वपुरुषके हृदयमें प्रस्तुत है, किंतु नाना आवरणोंसे आवृत है। अंतर्यामीकी यह अभिसंधि है कि द्रष्टा, कर्त्ता और अनेक भगवत्-विभूतियोंकी अनेक चेष्टाओंके द्वारा धीरे-धीरे बाहर होकर, स्थूल जगत्में इसकी प्रतिष्ठा हो।

* * * *

जगन्नाथके रथका असली नाम समाज नहीं, संघ है। यह बहुमुखी शिथिल जनसंघ या जनता जगन्नाथका रथ नहीं है; जगन्नाथका रथ है आत्मज्ञानसे, भागवत ज्ञानसे परिपूर्ण, एकमुखी शक्तिके बलसे आनंदपूर्वक गठित, बंधनरहित अच्छेद्य संहति, भागवत संघ।

अनेक समवेत मनुष्योंके एकत्र कर्म करनेके साधनस्वरूप जो संहति है, वही समाजके नामसे विख्यात है। शब्दकी उत्पत्ति जानकर ही उसका अर्थ जाना जाता है। सम् प्रत्ययका अर्थ है एकत्र,

अज़ धातुका अर्थ है गमन, धावन, युद्ध। हजारों मनुष्य कर्मके लिये और कामनाकी पूर्तिके लिये एकत्रित हैं, एक ही क्षेत्रमें नाना प्रकारके लक्ष्यकी ओर दौड़ रहे हैं, कौन आगे जाता है कौन पीछे रहता है इस बातको लेकर अन्य समाजोंके साथ जैसी स्पर्धा (competition) चल रही है वैसा ही आपसमें भी युद्ध और झगड़ा हो रहा है—इस कोलाहलमें शृंखला और सहायताके लिये तथा मनोवृत्तिकी चरितार्थताके लिये अनेक प्रकारके संबंध स्थापित किये जाते हैं, अनेक प्रकारके आदर्शोंकी प्रतिष्ठा होती है, फलस्वरूप कष्टसिद्ध, असंपूर्ण, अस्थायी एक चीज तैयार होती है—यही समाजका, प्राकृत संसारका चेहरा है।

भेद ही है प्राकृत समाजकी भित्ति। इस भेदपर ही उसका आंशिक, अनिश्चित और अस्थायी ऐक्य निर्मित है। किंतु आदर्श समाजका गठन ठीक इसके विपरीत होता है। आदर्श समाजकी भित्ति है ऐक्य; और यह जो पार्थक्यका खेल है वह आनंद-वैचित्र्यके लिये है, भेदके लिये नहीं। समाजमें हमको शारीरिक, मानस-कल्पित और कर्मगत ऐक्यकी आभा मिलती है, किंतु संघका प्राण है आत्मगत ऐक्य।

आंशिक रूपसे संकीर्ण क्षेत्रमें संघ-स्थापन करनेकी निष्फल चेष्टा कई बार हुई है, हो सकता है कि यह बुद्धिगत चिंताकी प्रेरणासे हुआ हो—जैसा कि पाश्चात्य देशोंमें हुआ; अथवा यह निर्वाणोन्मुख कर्मविरतिके स्वच्छंद अनुशीलनार्थ हुआ हो–जैसा कि बौद्धोंने किया; या यह भागवत भावके आवेगसे हुआ हो—जैसा कि प्रथम ईसाईसंघने किया। परंतु अल्पकालके बाद ही समाजके जितने दोष, अपूर्णताएं और प्रवृत्तियां हैं वे संघोंमें घुस जाती हैं और उन्हें समाजमें परिणत कर देती हैं। चंचल बुद्धिका चिंतन नहीं टिकता, वह प्राचीन या नवीन प्राण-प्रवृत्तिके अदम्य स्रोतमें

बह जाता है। भावके आवेगसे इस चेष्टाको सफल करना असंभव है, भाव अपनी उग्रताके कारण क्लांत हो जाता है। निर्वाणको अकेले ही ढूंढना अच्छा है, निर्वाण-प्रेमियोंका किसी संघकी सृष्टि करना एक विपरीत कांड है। संघ स्वभावतः कर्मकी, संबंधकी लीलभूमि है।

समष्टिगत विराट् पुरुषकी इच्छाशक्तिकी प्रेरणासे, ज्ञान, कर्म और भावके सामंजस्य और एकीकरणद्वारा आत्मगत ऐक्य जिस दिन दिखायी देगा उस दिन जगन्नाथका रथ बाहर निकलकर दसों दिशाओंको आलोकित करेगा। उस दिन पृथ्वीके वक्षपर सत्ययुग उतर आवेगा, मर्त्य मनुष्यकी पृथ्वी होगी देवताका लीला-शिविर भगवान्‌की मंदिर-नगरी (temple city of god)—आनन्द-पुरी।



आर्य-आदर्श और गुणत्रय

"कारागृह और स्वाधीनता" शीर्षक लेखमें कई निरपराध कैदियोंके मानसिक भावका वर्णन कर मैंने यही प्रतिपादित करनेकी चेष्टा की है कि, आर्य-शिक्षाके प्रभावसे जेलमें भी भारतवासियोंकी आंतरिक स्वाधीनतारूप जो बहुमूल्य पैत्रिक संपत्ति है, वह नष्ट नहीं होती—बल्कि घोर अपराधियोंके बीचमें भी हजारों वर्षोंसे संचित किया हुआ आर्य-चरित्रगत यह देव भाव, भग्नावशिष्ट रूपमें वर्त्तमान रहता है। आर्यशिक्षाका मूल मंत्र है सात्विक भाव। जो सात्विक है वह शुद्ध है। साधारणतया मनुष्यमात्र ही अशुद्ध है। रजोगुणका प्राबल्य होनेसे, तमोगुणी घोर अंधकारके छा जानेसे यह अशुद्धि परिपुष्ट होती और बढ़ती है। मनका मालिन्य दो प्रकारका होता है। जड़ता अथवा अप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह तमोगुणसे उत्पन्न होता है। दूसरा, उत्तेजना या कुप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह रजोगुणसे उत्पन्न होता है। तमोगुणके लक्षण हैं अज्ञान, मोह, बुद्धिकी स्थूलता, चिंतनकी असंलग्नता, आलस्य, अतिनिद्रा, कर्ममें आलस्यजनित विरक्ति, निराशा, विषाद, भय, एक शब्दमें जो भाव निश्चेष्टताके पोषक हैं वे सभी। जड़ता और अप्रवृत्ति अज्ञानके फल हैं और उत्तेजना तथा कुप्रवृत्ति भ्रांत ज्ञानसे उत्पन्न हैं। परंतु तमोमालिन्यको यदि हटाना हो तो वह रजोगुणके उद्रेकके द्वारा ही हो सकता है। रजोगुण ही प्रवृत्तिका कारण है और प्रवृत्ति ही निवृत्तिकी पहली सीढ़ी है। जो जड़ है वह निवृत्त नहीं है कारण जड़भाव ज्ञानशून्य है और ज्ञान ही निवृत्तिका

मार्ग है। कामनाशून्य होकर जो कर्ममें प्रवृत्त होता है, वही निवृत्त है—कर्मत्यागका नाम निवृत्ति नहीं है। इसीलिये भारतकी घोर तामसिक अवस्थाको देखकर स्वामी विवेकानंद कहा करते थे कि, "रजोगुणकी आवश्यकता है, देशमें कर्मवीरोंकी आवश्यकता है, प्रवृत्तिका प्रचंड स्रोत बह जाय, ऐसा होनेसे यदि पाप भी आ घुसे तो भी वह तामसिक निश्चेष्टताकी अपेक्षा हजारगुना अच्छा होगा।"

सचमुच हम लोग घोर तममें निमग्न हैं, फिर भी सत्त्वगुणकी दुहाई देते हुए महासात्विक सजकर हम अपनी बड़ाई करते फिरते हैं। बहुतोंका यह मत है कि सात्विक होनेके कारण ही, हम राजसिक जातियोंद्वारा पराजित हैं, सात्विक होनेके कारण ही हम इस प्रकारकी अवनत और अधःपतित दशाको प्राप्त हैं। ये लोग इस तरहकी युक्तियोंद्वारा ईसाईधर्मसे हिंदूधर्मकी श्रेष्ठता प्रमाणित करनेकी चेष्टा करते हैं। ईसाईजाति प्रत्यक्ष फलवादी है, इस जातिके लोग धर्मका ऐहिक फल दिखाकर धर्मकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करनेकी चेष्टा करते हैं; इनका कहना है कि ईसाईजाति ही जगत्में प्रबल है, अतएव ईसाईधर्मही संसारका श्रेष्ठतम धर्म है। इधर हममेंसे कितनोंका यह कहना है कि, यह भ्रम है। इनके मतानुसार धर्मकी श्रेष्ठताका निर्णय, उसके ऐहिक फलको देखकर नहीं किया जा सकता, इसके लिये हमें धर्मके पारलौकिक फलको देखना होगा; हिंदूजाति अधिक धार्मिक है इसीलिये वह असुर प्रकृति बलवान् पाश्चात्य जातिके अधीन हुई है। परंतु इस युक्तिके अंदर एक ऐसा घोर भ्रम पड़ा है जो आर्यज्ञानके विरुद्ध है। सत्त्वगुण कभी भी अवनतिका कारण नहीं हो सकता; सत्त्वप्रधाना जाति दासत्वकी शृंखलामें बंधकर नहीं रह सकती। सत्त्वगुणका मुख्य फल है ब्रह्मतेज, और क्षात्रतेज है ब्रह्मतेजकी भित्ति। आघात पाकर शांत ब्रह्मतेजसे क्षात्रतेजका स्फुलिंग बाहर

निकलता है, चारों ओर प्रज्वलित हो उठता है। जहां क्षात्रतेज नहीं है वहां ब्रह्मतेज नहीं टिक सकता। देशमें यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हो तो वह एक सौ क्षत्रियोंकी सृष्टि कर लेता है। देशकी अवनति-का कारण सत्त्वगुणकी अधिकता नहीं, बल्कि रजोगुणका अभाव और तमोगुणका प्राधान्य है। रजोगुणके अभावके कारण हमारा अंतर्निहित सत्त्व म्लान होकर तमके अंदर छिप गया। आलस्य, मोह, अज्ञान, अप्रवृत्ति, निराशा, विषाद, निश्चेष्टताके साथ-ही-साथ देशकी दुर्दशा और अवनति भी बढ़ने लगी। यह मेघ पहले हलका और विरल था, किंतु कालकी गतिसे क्रमशः इतना अधिक निविड हो गया, अज्ञान और अंधकारमें डूबकर हम इतने निश्चेष्ट और महत्वाकांक्षासे विमुख हो गये कि भगवानद्वारा प्रेरित महापुरुषोंके उदय होनेपर भी यह अंधकार पूर्ण रूपसे दूर नहीं हुआ। जब यह दशा हुई तब सूर्य-भगवान्ने रजोगुणजनित प्रवृत्तिके द्वारा देशकी रक्षाका संकल्प किया।

जाग्रत रजःशक्तिके प्रचंड रूपसे कार्यशीला होनेपर तम पलायनोद्यत हो जाता है सही, परंतु दूसरी ओरसे स्वेच्छाचार, कुप्रवृत्ति और उद्दाम उच्छृंखलता प्रभृति आसुरी भावोंके घुस आनेकी आशंका हो जाती है। रजःशक्ति यदि अपनी ही प्रेरणासे, उन्मत्तताकी विशाल प्रवृत्तिके पोषणको ही लक्ष्य बनाकर कार्य करे तो उपर्युक्त आशंकाके लिये यथेष्ट कारण भी पैदा हो जाता है। उच्छृंखल भावसे स्वपथगामी होनेपर रजोगुण अधिक कालतक नहीं टिक सकता, उसमें क्लांति आ जाती है, तम आ जाता है प्रचंड तूफानके बाद आकाश निर्मल और परिष्कृत न होकर, मेघा-च्छन्न और वायुस्पंदनरहित हो जाता है। राष्ट्रविप्लवके बाद फ्रांसकी यही दशा हुई। उस राष्ट्रविप्लवमें रजोगुणका भीषण प्रादु-र्भाव हुआ, किंतु विप्लवके अंतमें तामसिकताका अल्पाधिक पुन-

त्थान हुआ, पुनः राष्ट्रविप्लव, पुनः क्रांति, शक्तिहीनता, नैतिक अवनति—यही गत सौ वर्षोंका फ्रांसका इतिहास है। जितनी बार साम्य-मैत्री-स्वाधीनतारूपी आदर्शजनित सात्विक प्रेरणा फ्रांसके प्राणोंमें जागरित हुई, उतनी ही बार क्रमशः रजोगुण प्रबल होकर, सत्त्वसेवा-विमुख आसुरी भावमें परिणत होकर स्वप्रवृत्तिको पूर्ण करनेके लिये सचेष्ट हुआ है। फलतः, तमोगुणके आविर्भावके कारण फ्रांस अपनी पूर्वसंचित महाशक्तिको खोकर म्रियमाण विषम अवस्थामें, त्रिशंकुकी नाईं न तो स्वर्गमें और न मर्त्यमें ही, पड़ा हुआ है। इस प्रकारके परिणामसे बचनेका एकमात्र उपाय है प्रबल रजःशक्तिको सत्त्वकी सेवामें नियुक्त करना। यदि सात्विक भाव जाग्रत होकर रजःशक्तिका परिचालन करे तो तमोगुणके पुनः प्रादुर्भावका भय भी जाता रहेगा और उद्दाम शक्ति भी शृंखलित और नियंत्रित होकर, उच्च आदर्शसे संचालित होकर देश और जगत्का हित साधन करेगी। सत्त्वकी वृद्धिका साधन है धर्मभाव—स्वार्थको डुबाकर परमार्थ साधनमें समस्त शक्तिको अर्पण कर देना—भगवान्को आत्मसमर्पण करके समस्त जीवनको एक महान् और पवित्र यज्ञमें परिणत कर देना। गीतामें कहा गया है कि सत्त्व और रज दोनों मिलकर ही तमका नाश करते हैं; अकेला सत्त्व कभी भी तमका पराजय नहीं कर सकता। इसीलिये भगवानने संप्रति धर्मका पुनरुत्थान कराकर, हमारे अंतर्निहित सत्त्वको जगाकर, तब उसके बाद रजःशक्तिका समस्त देशमें संचार किया है। राममोहनराय प्रभृति धर्मोपदेशक महात्मागण सत्त्वको पुनरुद्दीपित कर नवयुगका प्रवर्त्तन कर गये हैं। उन्नीसवीं शताब्दिमें धर्मजगत्में जितनी जाग्रति हुई उतनी राजनीति और समाजमें नहीं हुई। कारण क्षेत्र प्रस्तुत नहीं था, अतएव प्रचुर परिमाणमें बीज बोनेपर भी अंकुर दिखायी नहीं दिये। इसमें भी

भारतवर्षपर भगवान्‌की दया और प्रसन्नता ही दिखायी देती है। कारण राजसिक भावसे उत्पन्न जो जागरण होता है वह कभी भी स्थायी या पूर्ण कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इस जागरणसे पहले उस जातिके अंतरमें ब्रह्मतेजका उद्दीपन हो जाना आवश्यक है। इसीलिये इतने दिनोंतक रजःशक्तिकी धारा रुकी हुई थी। १९०५ ई० में रजःशक्तिका जो विकाश हुआ है वह सात्विक भावसे युक्त है। इसीलिये इसमें जो उद्दाम भाव दिखायी दिया है उससे भी आशंकाका विशेष कारण नहीं है, क्योंकि यह रजःसत्त्वका खेल है; इस खेलमें जो कुछ भी उद्दाम या उच्छृंखल भाव है, वह शीघ्र ही नियमित और शृंखलित हुए बिना न रहेगा। किसी बाह्य शक्तिके द्वारा नहीं, बल्कि भीतर जो ब्रह्मतेज, जो सात्विक भाव जागरित हुआ है उसीके द्वारा यह वशीभूत और नियमित होगा। धर्मभावका प्रचार करके हम इस ब्रह्मतेज और इस सात्विक भावका पोषण-मात्र कर सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि परार्थमें समस्त शक्तिको लगा देना सत्त्वोद्रेकका एक उपाय है। और हमारे राजनैतिक जागरणमें, इस भावका यथेष्ट प्रमाण पाया भी जाता है। परंतु इस भावकी रक्षा करना कठिन है। यह बात व्यक्तिके लिये जितनी कठिन है, जातिके लिये उसकी अपेक्षा और भी अधिक कठिन है। परार्थके अंदर स्वार्थ अलक्षित भावसे घुस जाता है, और यदि हमारी बुद्धि शुद्ध न हो तो हम ऐसे भ्रममें गिर जा सकते हैं कि हम परार्थकी दुहाई देकर और स्वार्थको आश्रय बनाकर, परहित, देशहित और मनुष्यजातिके हितको डुबा देंगे तथापि हमारा भ्रम किस जगह है, यह हमें मालूम न होगा। भगवत्सेवा सत्त्वोद्रेकका दूसरा उपाय है। परंतु इस मार्गमें भी, हो सकता है कि, परिणाम विपरीत हो। भगवत्सान्निध्यरूपी आनंदको पाकर हममें सात्विक निश्चेष्टताका

प्रादुर्भाव हो सकता है, उस आनंदका स्वाद भोग करते-करते हम दुःखकातर देशके प्रति तथा मानवजातिकी सेवाके प्रति उदासीन हो जा सकते हैं। यही है सात्विक भावका बंधन। जिस प्रकार राजसिक अहंकार है उसी प्रकार सात्विक अहंकार भी है। जैसे पाप मनुष्यको बंधनमें डालता है वैसे ही पुण्य भी उसे बंधनमें डालता है। संपूर्ण वासनाओंसे शून्य होकर अहंकारको त्यागकर भगवान्‌को आत्मसमर्पण किये बिना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती। इन दोनों अनिष्टोंका त्याग करनेके लिये सबसे पहले जिस चीजकी आवश्यकता है, वह है विशुद्ध बुद्धि। देहात्मक बुद्धिका वर्जन कर मानसिक स्वाधीनताका अर्जन करना ही बुद्धिको साधनेकी पूर्ववर्ती अवस्था है। मन जब स्वाधीन हो जाता है तब वह जीवके अधीन हो जाता है, और इसके बाद मनको जीतकर और बुद्धिके आश्रयमें जाकर मनुष्य स्वार्थके पंजेसे बहुत कुछ छुटकारा पा जाता है। यह सब हो जानेपर भी स्वार्थ हमें संपूर्ण रूपसे नहीं छोड़ता। अंतिम स्वार्थ है मुमुक्षुत्व, परदुःखको भूलकर अपने ही आनंदमें विभोर होकर रहनेकी इच्छा। इसका भी त्याग करना होता है। समस्त भूतोंमें नारायणकी उपलब्धि कर, समस्त भूतोंमें स्थित जो नारायण है उसकी सेवा ही, इसकी दवा है। यही है सत्त्वगुणकी पराकाष्ठा। इससे भी उच्चतर अवस्था होती है, वह है सत्त्वगुणका भी अतिक्रमण कर, गुणातीत होकर संपूर्ण भावसे भगवान्‌को आश्रय बनाना। गुणातीत अवस्थाका गीतामें इस प्रकार वर्णन है:—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

"जब जीव साक्षी होकर गुणत्रयको, अर्थात् भगवान्‌की त्रैगुण्यमयी शक्तिको ही एकमात्र कर्त्ताके रूपमें देखता है तथा इस गुणत्रयके भी ऊपर इस शक्तिके प्रेरक ईश्वरको जान पाता है तब वह भागवत साधर्म्य लाभ करता है। तब देहस्थ जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंसे संभूत गुणत्रयका अतिक्रमण कर जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखसे मुक्त होकर अमरत्व भोग करता है। सत्त्वगुणजनित ज्ञान, रजोगुणजनित प्रवृत्ति या तमोगुणजनित निद्रा, निश्चेष्टता, भ्रम रूपी मोहके होनेपर, वह क्षुब्ध नहीं होता, गुणत्रयके आगमन और निर्गमनमें समान भाव रखकर उदासीनकी भांति वह अपने आसनपर स्थिर रहता है, गुणग्राम उसे विचलित नहीं कर सकते, इन सबको गुणोंकी स्वधर्मजात वृत्ति जानकर, वह अपने स्थानपर दृढ़ रहता है। जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, प्रिय और अप्रिय समान हैं, निंदा और स्तुति समान हैं, सोना और मिट्टी दोनों ही पत्थरके समान हैं, जो धीर स्थिर अपने ही

अंदर अटल है जिसके निकट मान और अपमान दोनों एक ही बात हैं, जिसे मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों ही समान भावसे प्रिय हैं, जो स्वयं प्रेरित होकर किसी कार्यका आरंभ नहीं करता, बल्कि समस्त कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर उन्हींकी प्रेरणासे करता है, उसीको गुणातीत कहते हैं। जो निर्दोष भक्तियोगद्वारा मेरी सेवा करता है वही इन तीनों गुणोंका अतिक्रमण कर ब्रह्मप्राप्तिके उपयुक्त होता है।"

यह गुणातीत अवस्था सबके लिये साध्य न होनेपर भी इसकी पूर्ववर्त्ती अवस्थाको प्राप्त कर लेना सत्त्वगुणप्रधान पुरुषके लिये असाध्य नहीं है। सात्त्विक अहंकारका त्यागकर जगत्‌के सभी कार्योंमें भगवान्‌की त्रैगुण्यमयी शक्तिकी लीलाको देखना इसका सबसे पहला उपक्रम है। इस बातको समझकर सात्त्विक कर्त्ता कर्त्तृत्व अभिमानसे अलग होकर भगवान्‌के संपूर्ण आत्मसमर्पण-पूर्वक कर्म करता है।

गुणत्रय और गुणातीतके संबंधमें मैंने जो कुछ कहा वह गीताकी मूल बात है। परंतु यह शिक्षा साधारणतया अंगीकृत नहीं हुई है, अभीतक जिसको हम आर्यशिक्षाके नामसे संबोधित करते आये हैं, वह प्रायः सात्त्विक गुणका अनुशीलन ही है। रजोगुणका आदर तो इस देशमें क्षत्रिय जातिके लोप होनेके साथ-ही-साथ, लुप्त हो गया। हालांकि जातीय जीवनमें रजःशक्तिका भी अत्यंत प्रयोजन है। इसीलिये आजकल गीताकी ओर लोगोंका मन आकृष्ट हुआ है। गीताकी शिक्षाने पुरातन आर्यशिक्षाको भित्ति बनाकर भी, उसका अतिक्रमण किया है। गीतोक्त धर्म रजोगुणसे भय नहीं खाता, उसमें रजःशक्तिको सत्त्वकी सेवामें नियुक्त करनेका साधन है, प्रवृत्तिमार्गमें मुक्तिका उपाय प्रदर्शित है। इस धर्मका अनुशीलन करनेके लिये जातिका मन किस प्रकार तैयार

हो रहा है इस बातको पहले-पहल मैंने जेलमें ही हृदयङ्गम किया। अभी भी स्रोत निर्मल नहीं हुआ है, अभी भी वह कलुषित और मलिन है, किंतु इस स्रोतका अतिरिक्त वेग जब कुछ प्रशमित होगा तब उसके अंदर जो विशुद्ध शक्ति छिपी हुई है, उसका निर्दोष कार्य आरंभ होगा।

जो मेरे साथ कैद थे और एक ही अभियोगमें अभियुक्त थे, उनमेंसे बहुतसे निर्दोष कहकर छोड़ दिये गये, बाकी लोगोंको यह कहकर सजा दी गयी है कि वे षड्यंत्रमें लिप्त थे। मानवसमाजमें हत्यासे गुरुतर अपराध और कोई नहीं हो सकता। जातीय स्वार्थसे प्रेरित होकर जो हत्या करता है, उसका व्यक्तिगत चरित्र चाहे कलुषित न हो, किंतु इससे, सामाजिक हिसाबसे, अपराधीका दोष कम नहीं होता। यह भी स्वीकार करना होगा कि अंतरात्मापर हत्याकी छाया पड़नेसे मनपर मानो रक्तका दाग पड़ जाता है, उसमें क्रूरताका संचार होता है। क्रूरता बर्बरोचित गुण है, उन्नतिके क्रमविकासमें मनुष्य जिन सब गुणोंसे धीरे-धीरे दूर हो रहा है, उन सबमें क्रूरता प्रधान है। इसका यदि पूर्ण रूपसे त्याग हो जाय तो मानवजातिकी उन्नतिके मार्गमेंसे एक विघ्नकारी कंटक नष्ट हो जाय। अभियुक्तोंके दोषको देखनेपर यही समझना होगा कि यह रजःशक्तिकी क्षणिक उद्दाम उच्छृंखलतामात्र है। परंतु उनके अंदर ऐसी एक सात्विक शक्ति निहित है कि इस क्षणिक उच्छृंखलताके द्वारा देशका स्थायी अमंगल होनेकी कोई आशंका नहीं है।

अंतरकी जिस स्वाधीनताकी बात मैं ऊपर कह आया हूं वह स्वाधीनता मेरे साथियोंका स्वभावसिद्ध गुण है। जिन कई दिनों-तक हमलोग एक संग एक बड़से दालानमें रखे गये थे, उन दिनोंमें मैंने उनके आचरण और मनोभावोंको मनोयोगपूर्वक लक्ष्य किया। केवल दो व्यक्तियोंको छोड़कर अन्य किसीके भी मुंह या जबानपर

भयकी छायातक देखनेको नहीं मिली। प्रायः सभी नौजवान थे, बहुतसे अल्पवयस्क बालक थे, जिस अपराधमें वे पकड़े गये थे वह प्रमाणित होनेपर उसका दण्ड जैसा भीषण होगा इसकी कल्पना-मात्रसे दृढ़मति पुरुषका विचलित हो जाना भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस मुकदमेसे रिहाई पा जायंगे, इसकी ये लोग बहुत आशा भी नहीं रखते थे। विशेषतः, मजिस्ट्रेटकी अदालतमें गवाहियोंका जैसा भीषण आयोजन होने लगा उसे देखकर कानूनसे अनभिज्ञ व्यक्तिके मनमें सहज ही यह धारणा होने लगी कि निर्दोषीके लिये भी, इस फंदेसे निकलनेका उपाय नहीं है। फिर भी उनके मुंहपर भय या विषादके बदले, केवल प्रफुल्लता, सरल हास्य, अपनी विपदको भूलकर धर्म और देशकी बात ही थी। हमलोगोंके वार्डमें, हरेक बंदीके निकट दो चार किताबें होनेके कारण, एक छोटीसी लाइब्रेरी बन गयी थी। इस लाइब्रेरीकी अधिकांश किताबें धर्मसंबंधी थीं। गीता, उपनिषद, विवेकानंदपुस्तकावली, रामकृष्णकथामृत और जीवनचरित, पुराण, स्तोत्रमाला, ब्रह्मसंगीत इत्यादि। अन्य पुस्तकोंमें बंकिमग्रंथावली, स्वदेशी गान संबंधी बहुतसी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं और युरोपीय दर्शन, इतिहास और साहित्यकी थोड़ीसी पुस्तकें थीं। प्रातःकाल कोई-कोई साधना करने बैठता, कोई-कोई पुस्तकें पढ़ता और कोई कोई धीरे-धीरे गप करता। प्रातःकालकी इस नीरवताके अंदर बीच-बीचमें हंसीकी लहरें भी उठ जाती थीं। जिस दिन कचहरीका दिन नहीं होता उस दिन कुछ लोग सोते और कुछ लोग खेलते—जिस दिन जो भी खेल हो जाय, किसी खास खेलके लिये किसीको कोई आग्रह नहीं था। किसी दिन एक मंडल बनाकर कोई शांत खेल होता था तो किसी दिन दौड़ा-दौड़ी या कूद फांद, कुछ दिन फुटबाल चला, अवश्य ही यह फुटबाल किसी अपूर्व सामग्रीद्वारा बनाया गया

था। कुछ दिन आंखमिचौनी चली। कभी-कभी अलग-अलग दल बनाकर एक ओर जुजुत्सु शिक्षा होती थी तो दूसरी ओर हाइजम्प और लांगजम्प तथा किसी ओर ड्राफ्ट या चौपड़के खेल। दो चार गंभीर प्रौढ़ व्यक्तियोंको छोड़कर प्रायः सभी, बालकोंके अनुरोधसे इन खेलोंमें शरीक होते थे। मैंने देखा कि इनमें जो बड़े-बूढ़े थे उनका स्वभाव भी बालकों जैसा ही था। शामको गानेकी मजलिस जुटती। गानविद्यामें निपुण उल्लास, शचींद्र और हेमदासके चारों ओर बैठकर हम सभी लोग गाना सुनते। स्वदेशी या धर्मके गानोंके अतिरिक्त और किसी तरहका संगीत नहीं होता था। किसी-किसी दिन केवल आमोद करनेकी इच्छासे उल्लासकर हंसीके गाने, अभिनय, दूरागतशब्दानुकरण (Ventriloquism), नकल उतारने या गंजेड़ियोंकी गप आदिके द्वारा शामका समय बिताता।...मुकदमेमें कोई भी जी नहीं लगाता था, सभी धर्म या आनंदमें दिन बिताते थे। इस प्रकारका निश्चिंत भाव कठिन दुष्क्रियाभ्यस्त हृदयके लिये असंभव है, इनके अंदर काठिन्य, क्रूरता, दुष्क्रियासक्ति, कुटिलता, लेशमात्र भी नहीं थी। क्या हंसी, क्या बातचीत, क्या खेल-कूद, इनका सभी कुछ आनंदमय, पापहीन और प्रेममय था।

इस मानसिक स्वाधीनताका फल शीघ्र ही विकसित होने लगा। इस प्रकारके क्षेत्रमें ही धर्म-बीजके बोनेसे सर्वांग सुंदर फल संभव होता है। ईसामसीहने कई एक बालकोंको दिखाकर अपने शिष्योंसे कहा था कि "जो इन बालकोंकी तरह हैं, वे ही ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।" ज्ञान और आनंद सत्त्वगुणके लक्षण है। जो दुःखको दुःख नहीं समझते, जो सभी अवस्थाओंमें आनंदित और प्रफुल्लित रहते हैं, वे ही योग करनेके अधिकारी हैं। जेलमें राजसिक भावको प्रश्रय नहीं मिलता, इसके अतिरिक्त निर्जन कारागारमें प्रवृत्तिका परिपोषक कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्थामें असुरका मन चिरभ्यस्त रजःशक्तिकी सामग्रीके अभावमें आहत व्याघ्रकी भांति स्वयं अपना ही नाश करने लगता है। पाश्चात्य कविगण जिसको

(Eating one's own heart) "तीव्र संतापसे जीको जलाना" कहते हैं, ठीक वही अवस्था घटती है। परंतु भारतवासीका मन इस प्रकारकी निर्जनतामें, इस बाह्य कष्टकी अवस्थामें पुरानी टानसे आकृष्ट होकर भगवान्‌की ओर दौड़ पड़ता है। हम लोगोंकी भी यही अवस्था हुई। न मालूम कहांसे एक स्रोत आकर सभीको बहा ले गया। जिसने कभी भी भगवान्‌का नाम नहीं लिया था वह भी साधना करना सीख गया और उस परम दयालुकी दयाका अनुभव कर आनंदमग्न हो गया। अनेक दिनोंके अभ्याससे योगियोंकी जो अवस्था होती है, वह इन बालकोंकी दो चार महीनेकी साधनासे हो गयी। रामकृष्ण परमहंसने एक बार कहा था, "अभी तुम लोग क्या देखते हो—यह तो कुछ भी नहीं है, देशमें एक ऐसा स्रोत आ रहा है जिसके प्रभावसे अल्पवयस्क बालक भी मात्र तीन दिन साधना करके सिद्धि प्राप्त करेगा।" इन बालकोंको देखकर उनकी भविष्यवाणीकी सफलतामें जरा भी संदेह नहीं रह जाता। ये मानो उस प्रत्याशित धर्मप्रवाहके मूर्त्तिमान पूर्व परिचय हैं। इस सात्विक भावकी तरंग, ठसाठस भरे हुए कठघरेके निवासियोंमेंसे चार पांचको छोड़कर बाकी सभीके हृदयको, महान् आनंदसे उत्प्लावित कर देती थी। इस स्वादको जिसने एक बार चखा है वह इसको कभी भी भूल नहीं सकता तथा दूसरे किसी भी आनंदको, वह इस आनंदके समान स्वीकार नहीं कर सकता। यह सात्विक भाव ही देशकी उन्नतिकी आशा है। भ्रातृभाव, आत्मज्ञान, भगवत्प्रेम, जिस सहज भावसे भारतवासीके मनपर अधिकार कर कार्यमें प्रकट होते हैं उसी सहज भावसे और किसी जातिमें उनका प्रकाश पाना संभव नहीं। होना चाहिये तमोवर्जन, रजोदमन और सत्त्वप्रकाश। भगवान्‌की गूढ़ अभिसंधिके फलस्वरूप भारतवर्षमें यही अवस्था प्रस्तुत हो रही है।



हिरोबूमि इतो

मानवजातिके अंदर दो प्रकारके जीव जन्म ग्रहण करते हैं। एक वे जो धीरे-धीरे क्रमविकासके स्रोतमें अग्रसर होकर अंतर्निहित देवत्वका प्रकाश करते हैं-ये साधारण मनुष्य हैं। और दूसरे वे जो उस क्रमविकासके सहायतार्थ विभूतिरूपसे जन्म ग्रहण करते हैं—ये स्वतंत्र हैं। इस दूसरे प्रकारके जीव जिस जाति या युगमें अवतरण करते हैं, ये उस जातिके चरित्र और आचार तथा उस युगके धर्मको ग्रहण करते हुए, ईश्वरीय शक्ति और स्वभावके बल-पर, साधारण मनुष्यके लिये जो कुछ असाध्य है ऐसे कर्मका साधन करके, जगत्की गति किंचित् परिवर्तित करके, इतिहासमें अमर नाम रखकर, अपने लोकमें चले जाते हैं। इनके कर्म और चरित्र मनुष्यकी प्रशंसा या निंदाके परे होते हैं। हम प्रशंसा करें या निंदा, किंतु वे भगवान्के सौंपे हुए कार्यको कर गये हैं और उस कार्यके द्वारा मानवजातिका भविष्य नियंत्रित होकर अपने पथपर द्रुत-गतिसे प्रवाहित होगा। सीजर, नेपोलियन, अकबर, शिवाजी इसी प्रकारकी विभूति थे। जापानका हिरोबूमि इतो भी इसी श्रेणीके अंतर्गत है। ऊपर मैंने जिन कई नामोंका उल्लेख किया है उनमेंका एक भी व्यक्ति गुण, प्रतिभा या कर्मके महत्त्वके हिसाबसे अथवा भविष्यके फलके हिसाबसे इतोकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं था। इतोका इतिहासमें और जापानके अभ्युदयमें प्रधान स्थान है इस बातको सभी जानते हैं, किंतु सब किसीको यह बात नहीं भी मालूम हो सकती है कि इतोने ही जापानके इस अभ्युदयके क्रम,

उपाय और उद्देश्यकी उद्भावना कर, शेष पर्यंत अकेले ही, इस महान् परिवर्तनको किया है । जापानके और सभी महापुरुष उसके हाथके यंत्र मात्र थे । इतोने ही जापानकी एकता और स्वाधीनता, उसके विद्याबल, सैन्यबल, नौसेनाबल, अर्थबल, वाणिज्य और राजनीति आदिकी कल्पना कर, उन्हें कार्यमें परिणत किया था । वे ही भावी जापानके साम्राज्यको तैयार कर रहे थे । परंतु उन्होंने जो कुछ किया वह परदेके अंदर रहकर किया । जर्मनीका कैसर विलियम या इंगलैंडका लायड जार्ज जो कुछ करते या सोचते हैं उसे सारा संसार तुरत ही जान जाता है। परंतु इतो जो कुछ करते या सोचते थे उसे कोई नहीं जानता था—जब उनकी निभृत कल्पना और चेष्टा फलीभूत हुई तब जगत् विस्मित होकर समझ सका कि इतने दिनोंतक, यही प्रस्तुत हो रहा था । अथच कितना प्रकांड कार्य, कितनी अद्भुत प्रतिभा उस कार्यमें प्रकाश पा रही है । यदि इतो अपनी कल्पनाओंको अपने ही हाथोंसे कार्यमें परिणत करनेके अभ्यासी होते तो सारा संसार बात-बातमें उन्हें उन्मत्त, असाध्य-साधन-प्रयासी अथवा स्वप्नविलासी कहकर, उनकी हंसी उड़ाता । इस बातका किसको विश्वास होता कि पचास वर्षोंके अंदर जापान अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करता हुआ समस्त पाश्चात्य सभ्यताको अपने अधीन कर लेगा, इंगलैंड, जर्मनी और फ्रांस आदि देशोंके समकक्ष एक प्रबल पराक्रमशाली जाति हो उठेगा, चीनको पराजित करेगा, रूसको हरा देगा, दूर-दूरके देश-विदेशोंमें जापानी वाणिज्य, जापानी चित्रकला, जापानी बुद्धिकी प्रशंसा और जापानी साहसके भयका विस्तार करेगा, कोरियापर अधिकार करेगा, फारमोजाको दखल करेगा, बृहत् साम्राज्यकी भित्तिकी स्थापना करेगा, एकता स्वाधीनता साम्य और जातीय शिक्षाकी चरम उन्नति साधित करेगा । नेपोलियन कहा करते थे कि "मैंने असाध्य शब्दको अपने

कोषसे निकाल दिया है।" इतोने यह बात यद्यपि कही नहीं तथापि कार्यतः किया यही है। नेपोलियनके कार्यकी अपेक्षा इतोका कार्य बड़ा है। ऐसे महापुरुष किसी हत्याकारीकी गोलीसे मारे गये इसके लिये दुःख करनेका कोई कारण नहीं है। जिसने जापानके लिये प्राणोंका उत्सर्ग किया, जापान ही जिसकी चिंताका विषय था, जापान ही जिसका उपास्य देवता था उसने जापानके लिये प्राणत्याग किया यह बड़े ही सुख, सौभाग्य और गौरवकी बात है। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" हिरोबूमि इतोके भाग्यमें ये दो परम फल एक ही जीवनवृक्षमें प्राप्त हुए।



दुर्गा-स्तोत्र

मातः दुर्गे! सिंहवाहनी सर्वशक्तिदायिनी मातः शिवप्रिये! तेरी शक्तिके अंशसे उद्भूत हम भारतके युवकगण तेरे मंदिरमें बैठे हुए तुझसे प्रार्थना करते हैं—सुन हे मातः तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! युग-युगमें मानव-शरीर धारण कर जन्म-जन्ममें तेरा ही काम कर, हम तेरे आनंदधामको लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म लेकर हम तेरे ही कार्यके व्रती हैं—सुन हे मातः तू भारतमें आविर्भूत हो, हमारी सहायक हो।

मातः दुर्गे! सिंहवाहिनी, त्रिशूलधारिणी, वर्म-आवृत-सुंदर-शरीर-धारिणी जयदायिनी मातः! तेरी प्रतीक्षामें भारत है तेरी उसी मङ्गलमयी मूर्त्तिको देखनेके लिये उत्सुक। सुन हे मातः तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! बलदायिनी, प्रेमदायिनी, ज्ञानदायिनी, शक्ति-स्वरूपिणी भीमे, सौम्य-रौद्र-रूपिणी! जीवन-संग्राम और भारत-संग्राममें तेरे द्वारा प्रेरित योद्धा हम सब, दे मातः, प्राण और मनमें असुरकी शक्ति दे, असुरका उद्यम दे, दे मातः, हृदयमें, बुद्धिमें देवताका चरित्र दे, देवताका ज्ञान दे।

मातः दुर्गे! जगत्श्रेष्ठ भारतजाति घोर तिमिरसे आच्छन्न थी। तू, हे मातः, गगनप्रांतमें धीरे-धीरे उदय हो रही है, तेरे स्वर्गीय शरीरकी तिमिरविनाशी आभासे ऊषाका प्रकाश हुआ है। आलोक विस्तार कर, हे मातः, तिमिर विनाश कर।

मातः दुर्गे! श्यामला सर्वसौंदर्य-अलंकृता ज्ञान-प्रेम-शक्तिकी आधार भारतभूमि तेरी विभूति, इतने दिनोंतक शक्तिसंहरणके लिये अपने-आपको छिपा रही थी। आगत युगमें, आगत कालमें, भारतका भार कंधेपर लादकर भारतजननी उठ रही है, आ, हे मातः, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! तेरी संतान हम, तेरे प्रसादसे, तेरे प्रभावसे महत् कार्यके महत् भावके उपयुक्त हो जायं। हे मातः, विनाश कर क्षुद्रता, विनाश कर स्वार्थ, विनाश कर भय।

मातः दुर्गे! कालीरूपिणी, नृमुंडमालिनी, दिगम्बरी, कृपाण-पाणि देवी असुरविनाशिनी! अपने क्रूर निनादसे अंतस्थ रिपुओंका विनाश कर। इनमेंसे एक भी हमारे अंदर जीवित न रहें, जिसमें कि हम विमल निर्मल हो जायं, यही प्रार्थना है, हे मातः, प्रकाश-मान हो।

मातः दुर्गे! स्वार्थसे, भयसे, क्षुद्राशयतासे भारत म्रियमाण हो रहा है। हे मातः! हमें महत् कर, महत्प्रयासी कर, उदारचेता कर, सत्यसंकल्पी कर। ऐसा कर जिससे कि हम अब और अल्पाभीप्सु, निश्चेष्ट, अलस और भयभीत न हों।

मातः दुर्गे! योगशक्तिका विस्तार कर। तेरे प्रिय आर्य-संतान हम, हममें लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धाभक्ति, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञानका विकास कर जगत्में वितरण कर। हे दुर्गतिनाशिनी जगदंबा! मनुष्यकी सहायताके लिये प्रकाश-मान हो।

मातः दुर्गे! अंतस्थ रिपुओंका संहार करके बाहरके बाधा-विघ्नोंको निर्मूल कर। बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति भारतके पवित्र काननमें, उर्वर क्षेत्रमें, गगनसहचर पर्वतके तले, पूतसलिला नदीके तीरपर एकतासे, प्रेमसे, सत्यशक्तिसे, शिल्पसे,

साहित्यसे, विक्रमसे, ज्ञानसे श्रेष्ठ होकर निवास करे, मातृ-चरणोंमें यही प्रार्थना है, हे मातः प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! हमारे शरीरमें योगबलद्वारा प्रवेश कर। हम होंगे तेरे यंत्र, तेरी अशुभ-विनाशी तलवारराशि, तेरे अज्ञान-विनाशी प्रदीप। हे मातः, भारतके युवकोंकी इस आशाको पूर्ण कर। यंत्री बनकर यंत्र चला, अशुभ-हंत्री होकर तलवार घुमा, ज्ञानदीप्ति-प्रकाशिनी होकर हाथमें प्रदीप ले, प्रकाशमान हो।

मातः दुर्गे! अबकी बार तुझे पानेपर अब और तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमकी डोरसे तुझे बांध लेंगे। आ मातः हमारे मन, प्राण और शरीरमें प्रकाशमान हो।

वीरमार्गप्रदर्शिनी आ! अब हम तेरा विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा सारा जीवन ही अनवच्छिन्न दुर्गापूजा हो, हमारे समस्त कार्य अविरत, पवित्र प्रेममय, शक्तिमय, मातृसेवाव्रतसे युक्त हों। यही प्रार्थना है, हे मातः, तू भारतमें आविर्भूत हो, प्रकाशमान हो।



स्वप्न

एक दरिद्र आदमी अंधेरी कोठरीमें बैठा हुआ अपनी शोचनीय अवस्था और भगवान्‌के राज्यमें अन्याय और अविचारकी बातें सोच रहा था। अभिमानसे वशीभूत होकर दरिद्र कहने लगा कि "लोग कर्मकी दुहाई देकर भगवान्‌के सुनामकी रक्षा करना चाहते हैं। यदि गत जन्मके पापसे मेरी यह दुर्दशा हुई होती, यदि मैं इतना ही पापी होता तो निश्चय ही इस जन्ममें भी मेरे मनमें पाप चिंताका स्रोत अभी भी बहता होता! इतना घोर पातकी मन क्या एक दिनमें निर्मल हो सकता है? और उस पाड़ेके तीनकौड़ी शीलको देखो, उसकी धन-दौलत, सोना-चांदी, दास-दासियोंको देखो, यदि कर्मफल सत्य है तो पूर्वजन्ममें निश्चय ही वह कोई जगद्विख्यात साधु या महात्मा था। परंतु कहां, इस जन्ममें तो इसका चिह्न मात्र भी दिखायी नहीं देता। ऐसा निष्ठुर पाजी बदमाश सारे संसारमें नहीं है। नहीं, कर्मवाद भगवान्‌की ठगविद्या है, मनको ढाढ़स देनेका एक बहानामात्र है। श्यामसुंदर बड़े चतुर चूड़ामणि हैं, मेरे पास आकर पकड़ाई नहीं देते, इसीमें उनकी कुशल है, नहीं तो अच्छी तरहसे शिक्षा देकर उनकी सारी चालाकी दूर कर देता।"

इतना कहते ही दरिद्रने देखा कि हठात् उसका अंधकार घर अतिशय उज्ज्वल आलोक-तरंगमें प्रवाहित हो गया, फिर तुरत ही वह आलोक-तरंग अंधकारमें लीन हो गयी। उसने देखा कि उसके सामने एक सुंदर कृष्णवर्ण बालक हाथमें दीपक लिये हुए खड़ा है—धीरे-धीरे मुसकरा रहा है पर कुछ बोलता नहीं। उसके सिरपर

मोरमुकुट और पावोंमें नूपुर देखकर दरिद्रने समझा कि स्वयं श्यामसुंदर उसे पकड़ाई देनेके लिये आये हैं। दरिद्र अप्रतिभ हो गया, एक बार उसके मनमें आया कि प्रणाम करूं, किंतु बालकका हंसता हुआ मुखड़ा देखकर किसी तरह भी प्रणाम करनेकी प्रवृत्ति नहीं हुई। अंतमें उसके मुंहसे ये वाक्य निकल पड़े—"अरे कन्हैया, तू क्यों आया है?"

बालकने हंसकर उत्तर दिया—"क्यों, तुमने मुझे बुलाया है न? अभी-अभी मुझको चाबुक लगानेकी प्रबल वासना तुम्हारे मनमें थी न, इसीलिये आकर मैंने अपनेको पकड़वा दिया है, उठकर चाबुक लगाना शुरू करो न।"

दरिद्र और भी अप्रतिभ हुआ, भगवान्‌को चाबुक लगानेकी इच्छाके लिये उसके हृदयमें अनुताप नहीं हुआ, किंतु इतने सुंदर बालकको स्नेह करनेके बदले उसके शरीरपर हाथ लगाना, यह भी ठीक नहीं मालूम हुआ। बालकने फिर कहा—"देखो हरिमोहन, जो लोग मुझसे भय नहीं करके मुझे सखाकी भांति देखते हैं, स्नेहभावसे गाली देते हैं, मेरे साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं, वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मैंने क्रीड़ाके लिये ही जगत्‌की सृष्टि की है, इस क्रीड़ाके उपयुक्त साथीको मैं सदा खोजता रहता हूं। परंतु भाई, ऐसे साथी मिलते कहां हैं? सभी मेरे ऊपर क्रोध करते हैं, दावा करते हैं, दान मान मुक्ति भक्ति, न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं, किंतु कहां, मुझे तो कोई नहीं चाहता! जो कुछ ये चाहते हैं वह मैं इन्हें देता हूं। क्या करूं, इन्हें संतुष्ट तो करना ही पड़ता है, नहीं तो ये मेरी जानके गाहक बन जायं। तुम भी देखता हूं कुछ चाहते हो। नाराज होनेपर गुस्सा उतारनेके लिये तुम्हें एक आदमी चाहिये। इसी अभिलाषाको पूरी करनेके लिये तुमने मुझे बुलाया है। अस्तु, मैं भी तुम्हारे चाबुककी मार खानेके लिये आया हूं—ये यथा मां

प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। हां, यदि प्रहार करनेके पहले तुम मेरे मुंहसे कुछ सुनना चाहते हो तो मैं तुम्हें अपनी प्रणाली बता दूंगा। क्यों! तुम राजी हो?"

हरिमोहनने कहा—"तू ऐसा कर सकेगा तो? देखता हूं तू बहुत बकवक करने जानता है, किंतु तेरे जैसा नन्हासा बालक मुझे कुछ शिक्षा दे सकेगा यह मैं कैसे विश्वास करूं?"

बालकने फिर हंसकर कहा—"अच्छा, आओ देखो मैं यह कर सकता हूं या नहीं।"

इतना कहकर श्रीकृष्णने हरिमोहनके सिरपर हाथ रखा। हठात् दरिद्रके समस्त शरीरमें विद्युतका स्रोत प्रवाहित होने लगा, मूलाधारमें सुप्त कुंडलिनीशक्ति अग्निमयी सर्पिणीके रूपमें गर्जन करती हुई उसके ब्रह्मरंध्रमें दौड़ आयी, उसका मस्तिष्क प्राण-शक्तिकी तरंगसे भर गया। इतनेमें उसे ऐसा दिखायी दिया कि उसके चारों ओर जो उसके घरकी दीवार है वह मानो दूर भागी जा रही है, यह नाम-रूपमय जगत् मानो उसे छोड़कर अनंतमें छिप गया है। हरिमोहन बाह्यज्ञानशून्य हो गया। जब उसे फिरसे चेतना हुई तो उसने देखा कि वह किसी अपरिचित मकानमें बालकके संग खड़ा है और उसके सामने गालपर हाथ रखे गद्दी-पर बैठे हुए एक वयोवृद्ध पुरुष प्रगाढ़ चिंतामें निमग्न हैं। घोर चिंतासे विकृत, हृदयविदारक निराशासे मलिन उनके मुंहको देख-कर हरिमोहनको यह विश्वास करनेकी इच्छा नहीं हुई कि यही वृद्ध ग्रामके हर्त्ता-कर्त्ता तीनकौड़ी शील हैं। अंतमें अत्यंत भयभीत होकर उसने बालकसे कहा—"अरे कन्हैया, यह तैंने क्या किया, चोरकी भांति घोर रात्रिमें दूसरेके मकानमें घुस आया? पुलिस आकर हम लोगोंको पकड़ेगी और मारते-मारते हम दोनोंका प्राण ले लेगी। तीनकौड़ी शीलके प्रतापको क्या तू नहीं जानता?"

बालकने हंसकर कहा—"अच्छी तरह जानता हूं। परंतु चोरी मेरा पुराना धंधा है, पुलिससे मेरी खूब घनिष्ठता है, तुम डरो नहीं। अब तुमको मैं सूक्ष्म दृष्टि देता हूं, वृद्धके मनके भीतर क्या हो रहा है, यह देखो। तीनकौड़ीके प्रतापको तो तुम जानते ही हो, किंतु मेरे प्रतापको भी देखो।"

अब हरिमोहन वृद्ध तीनकौड़ीके मनको देखनेमें समर्थ हुआ। उसने देखा मानो उस वृद्धकी धनाढ्य नगरी नाना प्रकारके आक्रमणोंसे विध्वंस हो रही है, उसकी तीक्ष्ण और ओजस्विनी बुद्धिमें कितनी ही भीषण मूर्त्तियां, पिशाच और राक्षस आदि प्रवेश कर उसके सुखको लूट रहे हैं। वृद्धने अपने प्यारे सबसे छोटे पुत्रके साथ कलह किया है, उसे घरसे निकाल दिया है; अब वे बुढ़ापेके प्यारे पुत्रको खोकर शोकसे मरणातुर हो रहे हैं, फिर भी क्रोध, गर्व और हठ उनके हृदयद्वारमें सांकल लगाकर पहरा दे रहे हैं। क्षमाको उस द्वारसे प्रवेश करनेकी मनाही है। उनकी कन्याके नाम दुश्चरित्रा होनेका कलंक लगा है, अतः वृद्ध अपनी प्रिय कन्याको घरसे निकालकर अब उसके लिये रो रहे हैं; वृद्ध यह जानते हैं कि उनकी कन्या निर्दोष है, किंतु समाजका भय, लोकलज्जा, अहंकार और स्वार्थ स्नेहको दबाकर रखे हुए हैं, उसे उभड़नेका अवसर नहीं देते। हजारों पाप-स्मृतियोंसे डरकर वृद्ध बार-बार चमक उठते हैं, तथापि पाप प्रवृत्तियोंको रास्तेपर लानेका साहस या बल उनमें नहीं है। बीच-बीचमें मृत्यु और परलोककी चिंता वृद्धको अत्यंत कठोर विभीपिका दिखा देती है। हरिमोहनने देखा कि मरनेकी चिंताके परदेके पीछेसे विकट यमदूत वृद्धको झांक-झांक कर देख रहे हैं और उनके दरवाजेको खटखटा रहे हैं। जब-जब दरवाजा खटखटानेका शब्द होता है तब-तब वृद्धका अंतरात्मा भयसे व्याकुल होकर चीत्कार कर उठता है। इस भयंकर दृश्यको देखकर हरि-

मोहन भयभीत हो गया और उसने बालककी ओर देखकर कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या, मैं तो सोचता था कि वृद्ध परम सुखी हैं।"

बालकने कहा—"यही मेरा प्रताप है। कहो किसका प्रताप अधिक है, उस महल्लेके तीनकौड़ी शीलका या वैकुंठवासी श्रीकृष्ण-का? हरिमोहन देखो! हमारे यहां भी पुलिस है, पहरा है, गवर्नमेंट है, कानून है, विचार है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूं। यह खेल क्या तुमको पसंद है?"

हरिमोहनने कहा—"नहीं रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है, क्या तुमको यह खेल अच्छा लगता है?"

बालकने हंसकर उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसंद करता हूं, चाबुक लगाना भी पसंद करता हूं और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहरको ही देखते हो, भीतरको देखनेकी सूक्ष्म दृष्टिका तुमने अभीतक विकास नहीं किया है। इसीलिये तुम कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी है। इस आदमीको पार्थिव किसी भी वस्तुका अभाव नहीं है—फिर भी यह लखपती तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख-यंत्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों होता है? क्या तुम यह कह सकते हो? बात यह है कि मनकी अवस्थामें ही सुख है और मनकी अवस्थामें ही दुःख। सुख और दुःख मनके विकार मात्र हैं। जिसके पास कुछ नहीं है, विपद् ही जिसकी संपद् है वह इच्छा करनेपर उस विपद्के अंदर भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्यमें दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःखकी ही चिंता करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पापमें अपने दिन बिताते हुए केवल दुःखकी ही चिंता करते हैं। इसीलिये पुण्यसे केवल क्षणिक सुख और पापसे केवल क्षणिक दुःख या पुण्यसे केवल क्षणिक दुःख

और पापसे केवल क्षणिक सुख होता है। इस द्वंद्वमें आनंद नहीं है। आनंदके आगारकी छवि तो मेरे पास है। जो मेरे पास आता है, मेरे प्रेमपाशमें बंधता है, मुझे साधता है, मेरे ऊपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनंदकी छविको वसूल करता है।"

हरिमोहन बड़ी तत्परताके साथ श्रीकृष्णकी बातें सुनने लगा। बालकने फिर कहा—"हरिमोहन और देखो, रूखा सूखा पुण्य तुम्हारे निकट नीरस हो गया है फिर भी इस संस्कारके प्रभावको छोड़ देना, इस तुच्छ अहंकारको जीत लेना, तुम्हारे लिये कठिन हो रहा है। इसी तरह पाप भी यद्यपि वृद्धके निकट नीरस हो गया है फिर भी संस्कारके प्रभावसे वे उसे छोड़ नहीं पाते और इस जीवनमें नरककी यंत्रणा भोग रहे हैं। इसीको 'पुण्यका बंधन' और 'पापका बंधन' कहते हैं। अज्ञानजनित संस्कार इस बंधनके लिये रस्सीका काम करता है। परंतु वृद्धकी यह नरकयंत्रणा बड़ी ही शुभ अवस्था है। इससे इनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अबतक चुपचाप बालककी बातोंको सुन रहा था, अब उसने कहा—"प्यारे कन्हैया, तेरी बातें बड़ी मीठी हैं, किंतु इनसे मेरा समाधान नहीं हो रहा है। सुख और दुःख मनके विकार हो सकते हैं, किंतु बाह्य अवस्था ही इनका वास्तविक कारण है। विचार देख, क्षुधाकी ज्वालासे प्राण जब छटपटा रहा हो, तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है? रोग या यंत्रणासे शरीर जब कातर हो रहा हो, तब क्या कोई तेरी बातको सोच सकता है?"

बालकने कहा—"आओ हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखाऊंगा।"

इतना कहकर बालकने हरिमोहनके सिरपर पुनः अपना हाथ रखा। हाथके स्पर्शका बोध होते ही हरिमोहनने देखा कि तीन-कौड़ी शीलके मकानका अब कहीं पता भी नहीं है, अब उसके

सामने किसी निर्जन सुरम्य पर्वतके वायुसेवित शिखरपर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न अवस्थामें बैठे हैं, उनके चरणोंके नीचे एक प्रकांड व्याघ्र प्रहरीकी तरह लेटा हुआ है। बाघको देखकर हरिमोहनके पैर आगे बढ़नेसे रुके, किंतु बालक उसे खींचकर संन्यासीके निकट ले गया। बालकके संग जोर न लगा सकनेके कारण हरिमोहनको लाचार होकर चलना पड़ा। बालकने कहा—"हरिमोहन देखो।"

हरिमोहनने देखा कि संन्यासीका मन उसकी आंखोंके सामने एक खुली हुई बहीके समान पड़ा हुआ है, इस बहीके हरेक पन्नेपर श्रीकृष्णनाम हजार बार लिखा हुआ है। संन्यासी निर्विकल्प समाधिके सिंह-द्वारका अतिक्रमण कर सूर्यके आलोकमें श्रीकृष्णके संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने और भी देखा कि संन्यासी कई दिनोंसे अन्न और जलके बिना जीवन बिता रहे हैं तथा गत दो दिनों भूख और प्याससे उनके शरीरको बहुत कष्ट हुआ है। हरिमोहनने कहा—"अरे कन्हैया! यह क्या? महात्मा तुझसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये क्षुधा और पिपासाकी पीड़ा भोग करते हैं। तुझे क्या साधारण-सी बुद्धि भी नहीं है। इस निर्जन व्याघ्रसंकुल अरण्यमें कौन इन्हें आहार देगा!" बालकने कहा—"मैं दूंगा, किंतु एक और मजा देखो।" हरिमोहनने देखा कि बाघने खड़े होकर अपने पंजेके आघातसे निकटवर्ती वल्मीकको तोड़ दिया। अब क्या था, उस मिट्टीके ढेरमेंसे हजारों दीमक निकलकर मारे क्रोधके संन्यासीके वदनपर चढ़कर उन्हें काटने लगे। संन्यासी उसी अवस्थामें बैठे हैं, ध्यानमग्न, निश्चल, अटल। अब बालकने संन्यासीके कानमें अति मधुर स्वरसे आवाज लगायी—"सखे!" संन्यासीने आंखें खोलीं, आरंभमें उन्होंने इस मोह-ज्वालामय दंशनका अनुभव नहीं किया, अभी भी उनके कानोंमें वही विश्ववांछित

चित्तको हर लेनेवाली वंशी बज रही थी—ठीक उसी तरह जिस तरह वह वृंदाबनमें श्रीराधाके कानोंमें बजी थी। इसके बाद उन हजारों दीमकोंके काटनेसे उनकी बुद्धि शरीरकी ओर आकृष्ट हुई। संन्यासी अपने आसनसे हिले नहीं—विस्मयपूर्वक मन-ही-मन कहने लगे—"यह क्या? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ओहो! यह तो श्रीकृष्ण मेरे संग क्रीड़ा कर रहे हैं, क्षुद्र दीमक-समूहके वेशमें मुझे काट रहे हैं।" हरिमोहनने देखा कि दीमकोंके काटनेकी पीड़ा अब संन्यासीकी बुद्धितक नहीं पहुंच पाती, प्रत्येक दंशनमें तीव्र शारीरिक आनंदका अनुभव कर, श्रीकृष्णनाम लेते हुए तथा अत्यंत आनंदपूर्वक तालियां बजाते हुए, वे नाचने लगे। दीमक मिट्टीमें गिरकर भाग गये। हरिमोहनने आश्चर्यपूर्वक पूछा—"अरे कन्हैया, यह क्या माया है!"

बालक ताली वजाकर एक पैरके वल दो बार घूमकर नाचा, ठठाकर हंसा और बोला—"मैं ही हूं जगत्का एकमात्र जादूगर! इस मायाको तुम नहीं समझ सकोगे, यह मेरा परम रहस्य है। देखा! यंत्रणामें भी संन्यासी मुझे स्मरण कर सके तो! और देखो।"

संन्यासी अब पुनः प्रकृतिस्थ होकर बैठे, उनका शरीर अब भूख प्यास अनुभव करने लगा, किंतु हरिमोहनने देखा कि संन्यासीकी बुद्धि उस शारीरिक विकारका अनुभवमात्र करती है, लेकिन न तो वह इससे विकृत ही हो रही है न लिप्त ही। इसी समय पहाड़परसे किसीने वंशीविनिंदित स्वरसे पुकारा, "सखे!" हरिमोहन चौंक पड़ा। यह तो श्यामसुंदरका ही मधुर वंशीविनिंदित स्वर है। इसके बाद उसने देखा कि पहाड़ी चट्टानके पीछेसे एक सुंदर कृष्णवर्ण बालक थालीमें उत्तम आहार और फल लिये हुए आ रहा है। हरिमोहन हतबुद्धि होकर श्रीकृष्णकी ओर देखने लगा। बालक उसके पास खड़ा है, फिर भी जो बालक आ रहा है

वह भी अविकल श्रीकृष्ण ही है। दूसरा बालक वहां आकर और संन्यासीको रोशनी दिखाकर बोला—"देखो, क्या लाया हूं।"

संन्यासीने हंसकर कहा—"आ गया? इतने दिनोंतक भूखा ही रखा? खैर, जब आया है तो बैठ मेरे संग खा।"

संन्यासी और बालक उस थालीकी सामग्रियोंको खाने लगे, आपसमें छीनाझपटी होने लगी। आहार समाप्त होनेपर बालक थाली लेकर अंधकारमें विलीन हो गया।

हरिमोहन कुछ पूछने जा रहा था, हठात् उसने देखा कि श्रीकृष्ण अब वहां नहीं है, अब न वहां संन्यासी है, न बाघ, न पर्वत ही। अब तो वह एक भले आदमियोंके महल्लेमें वास कर रहा है। प्रगाढ़ धन-दौलत है, स्त्री है, परिवार है, नित्य ब्राह्मणों और भिक्षुकोंको दान देता है, त्रिकाल संध्या करता है, शास्त्रोक्त आचार-विचारकी यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ रघुनंदनप्रदर्शित पथपर चल रहा है। आदर्श पिता, आदर्श स्वामी और आदर्श पुत्र होकर जीवन यापन कर रहा है। परंतु दूसरे ही क्षण उसने भयभीत होकर देखा कि जो लोग इस भद्र महल्लेमें वास कर रहे हैं उनके अंदर लेशमात्र भी सद्भाव या आनंद नहीं है, ये लोग यंत्रकी तरह बाह्य आचार-रक्षाको ही पुण्य समझ रहे हैं। इस जीवनसे हरिमोहनको आरंभमें जितना आनंद हुआ था, उतनी ही अब उसे यंत्रणा होने लगी। उसे बोध हुआ मानो उसको भयानक प्यास लगी है, किंतु उसको जल नहीं मिल रहा है, वह धूल फांक रहा है। वहांसे भागकर वह एक दूसरे गांवमें गया, वहां एक प्रकांड अट्टालिकाके सामने अपूर्व जनताका और उसके द्वारा दिये गये आशीर्वादका कोलाहल मचा हुआ था। हरिमोहन उस जनसमूहके कुछ पास गया, उसने देखा कि तीनकौड़ी शील दालानमें बैठे हुए उस जनताको दोनों हाथोंसे धन दे रहे हैं, कोई भी वहांसे निराश होकर

नहीं लौट रहा है। हरिमोहन ठठाकर हंस पड़ा, उसने सोचा—"यह कैसा स्वप्न! तीनकौड़ी शील और दाता? आश्चर्य!" इसके बाद उसने तीनकौड़ीके मनको देखा। उसे ज्ञात हुआ कि तीनकौड़ी शीलके मनमें लोभ, ईर्षा, काम, स्वार्थ आदि हजारों प्रकारकी अतृप्तियां और कुप्रवृत्तियां 'दो, दो' कहती हुई चिल्ला रही हैं। पुण्यके लिये, यशके लिये, गर्वके वश तीनकौड़ी उन भावोंको अतृप्त अवस्थामें ही किसी तरह ढांक कर रखे हुए हैं, लेकिन ये भाव उनके चित्तसे दूर नहीं हो गये हैं। इसी समय हरिमोहनको पकड़कर कोई जल्दी-जल्दी परलोकमें घुमा लाया। हिंदूका नरक, क्रिस्तानका नरक, मुसलमानका नरक, यूनानियोंका नरक, हिंदूका स्वर्ग, क्रिस्तानका स्वर्ग, मुसलमानका स्वर्ग, यूनानियोंका स्वर्ग—न मालूम कितने नरकों और कितने स्वर्गोंको हरिमोहन देख आया। इसके बाद उसने देखा कि वह अपने ही मकानमें, अपनी पूर्व परिचित फटी हुई चटाई और अपने उसी मैले-कुचैले तोशकपर बैठा हुआ है, और उसके सामने ही श्मामसुंदर खड़े हैं। बालकने कहा—"रात बहुत बीत गयी है, यदि मैं घर न लौटूंगा तो मेरे घरवाले मुझे डांटेंगे, पीटेंगे। इसलिये अधिक बातें करनेका अवकाश नहीं है, संक्षेपमें इतना ही कहता हूं कि जिन स्वर्गों और नरकोंको तुमने देखा है, ये सब स्वप्न-जगत्की कल्पनासे सृष्ट हुए हैं। मनुष्य मरणांतर स्वर्ग और नरकमें जाता है, अपने गत जन्मके भावको वहां भोगता है। तुम पूर्वजन्ममें पुण्यवान थे, किंतु उस जन्ममें प्रेमको तुम्हारे हृदयमें स्थान नहीं मिला। न तुमने ईश्वरसे प्रेम किया न मनुष्यसे। इसलिये प्राण त्याग करनेपर स्वप्न-जगत्में भले आदमियोंके उस महल्लेमें वास करके पूर्व जीवनके भावोंका तुम भोग करने लगे, भोग करते-करते उस भावसे तुम ऊब गये, तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे और तुम वहांसे निकलकर धूलिमय नरकमें

वास करने लगे, अंतमें जीवनके पुण्य फलोंका भोग कर पुनः तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवनमें छोटे-छोटे नैमित्तिक दानोंको छोड़कर, नीरस बाह्य व्यवहारको छोड़कर किसीके अभावको दूर करनेके लिये, तुमने कुछ नहीं किया। इसीलिये इस जन्ममें तुम्हें इतना अभाव है। अभी भी तुम जो नीरस पुण्य करते हो इसका कारण यह है कि केवल स्वप्न-जगत्के भोगसे पाप और पुण्यका संपूर्ण क्षय नहीं होता, इनका संपूर्ण क्षय तो कर्मफलको पृथ्वीपर भोगनेसे ही होता है। तीनकौड़ी गत जन्ममें दाता कर्ण थे, हजारों व्यक्तियोंके आशीर्वादसे इस जन्ममें लखपती हुए हैं, उन्हें किसी वस्तुका अभाव नहीं है। परंतु उनका चित्त शुद्ध नहीं होनेके कारण अतृप्त कुप्रवृत्तियोंको, पाप कर्मोंके द्वारा, उन्हें इस, समय तृप्त करना पड़ रहा है। कर्मवाद समझे क्या? न तो यह पुरस्कार है न दंड—यह है अमंगलके द्वारा अमंगलकी और मंगलके द्वारा मंगलकी सृष्टि, प्रकृतिका कानून। पाप अशुभ है अतः उसके द्वारा दुःखकी सृष्टि होती है; पुण्य शुभ है इसलिये उसके द्वारा सुखकी सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्तकी शुद्धिके लिये, अशुभके विनाशके लिये की गयी है। देखो हरिमोहन, पृथ्वी हमारे वैचित्र्यमय जगत्का एक छोटासा अंशमात्र है, और कर्मके द्वारा अशुभका नाश करनेके लिये तुम लोग वहां जन्म ग्रहण करते हो। और फिर जब पाप और पुण्यके हाथोंसे परित्राण पाकर प्रेम-राज्यमें पदार्पण करते हो तब इस कार्यसे छुटकारा मिलता है। अगले जन्ममें तुम भी छुटकारा पाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी शक्ति और उसकी सहचरी विद्याको तुम्हारे निकट भेजूंगा, परंतु देखो एक शर्त्त है कि तुम मेरे इस खेलके साथी बनोगे, मुक्ति नहीं मांग सकोगे। क्यों, राजी हो?"

हरिमोहनने कहा—"अरे कन्हैया! तैंने मेरा बड़ा उपकार किया। तुझे गोदमें लेकर प्यार करनेकी बड़ी इच्छा होती है, ऐसा मालूम

होता है मानो इस जीवनमें मुझे अब कोई वासना नहीं रह गयी है।"

बालकने हंसकर कहा—"हरिमोहन, कुछ समझे क्या?" हरिमोहनने उत्तर दिया—"समझा क्यों नहीं।" इसके बाद उसने कुछ सोचकर कहा—"अरे कन्हैया, तैंने मुझे फिर ठगा। अशुभका सृजन तैंने क्यों किया इसकी तो कोई कैफियत दी ही नहीं।" इतना कहकर उसने बालकका हाथ पकड़ लिया। उसके हाथसे अपना हाथ छुड़ाकर और उसको धमकाते हुए बालकने कहा—"दूर हटो! वाह, एक घंटेमें ही मेरी समस्त गुप्त बातें कहला लेना चाहते हो?" इतना कहकर बालकने दीपकको हठात् बुझा दिया और हरिमोहनसे कुछ दूर हटकर हंसते हुए कहा—"देखो हरिमोहन, चाबुक मारना तो तुम एकदम ही भूल गये। इसीसे तो मैं तुम्हारी गोदमें नहीं बैठा कि कहीं तुम बाह्य दुःखसे क्रुद्ध होकर मुझे अच्छी तरह पीटने न लगो! तुमपर मेरा लेशमात्र भी विश्वास नहीं है।"

हरिमोहनने अंधकारमें अपना हाथ बढ़ाया, बालक और अधिक दूर हट गया और बोला—"नहीं, इस सुखको मैं तुम्हारे दूसरे जन्मके लिये बाकी रख छोड़ता हूं। अच्छा अब चलता हूं।"

इतना कहकर उस अंधकार रात्रिमें बालक न जाने कहां अदृश्य हो गया। हरिमोहन उसकी नूपुरध्वनिको सुनते-सुनते जाग उठा। जागकर उसने सोचा कि, "यह कैसा स्वप्न देखा! नरक देखा, स्वर्ग देखा, और भगवानको तू कहा, छोटासा बालक समझकर डांटा, डपटा! यह बड़ा भारी पाप किया! परंतु जो कुछ भी क्यों न हो प्राणमें एक अभूतपूर्व शांतिका अनुभव कर रहा हूं।" हरिमोहन अब उस कृष्णवर्ण बालककी मोहिनी मूर्त्तिका ध्यान करने लगा और बीच-बीचमें कहने लगा "कितनी सुंदर, कितनी सुंदर!"

अन्यान्य पुस्तकें



श्रीअरविंद और उनका योग	....	मूल्य	॥)
योगप्रदीप	....	,,	॥)
इस जगत्‌की पहेली	....	,,	॥=)
माता	....	,,	॥)
योगके आधार	....	,,	२)
हमारा योग और उसके उद्देश्य	....	,,	॥)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	....	,,	।)
गीता-प्रबंध (प्रथम भाग)	....	,,	४)

प्रेसमें :—

मातृवाणी	....	,,	२)

श्रीअरविंद-ग्रंथमाला

१६, रयू देबासैं द रिश्मों

16, Rue desbassin de Richemont

पांडीचेरी PONDICHERRY.

प्राप्ति स्थान :—

१. श्रीअरविंदाश्रम, पांडीचेरी

२. अदिति कार्यालय, ठि. पोस्ट बकस नं० ८५ नयी दिल्ली

३. दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,

त्यागरायनगर, मद्रास

४. श्रीअरविंद लायब्रेरी,

२, आदिअप्पा मुदली लेन, वेपेरी, मद्रास

५. गुरुकुल विश्वविद्यालय (पुस्तक-विभाग)

पो. गुरुकुल-कांगडी, जि. सहारनपूर

६. गीता प्रचार कार्यालय,

१०८-११ मनोहर पूकुर रोड, कालीघाट, कलकत्ता

७. आर्य पब्लिशिंग हाउस,

६३ कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता

८. डा० आर० एस० अग्रवाल,

१५, दरियागंज, दिल्ली

९. श्रीअरविंद, कार्यालय, आनंद (गुजरात)

१०. रामनारायण पोद्दार, पोद्दार ब्रदर्स, करीम चेम्बर्स, हम्माम स्ट्रीट, फोर्ट, बंबई ।